ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL**04292**
RNI REG. NO. UPBIL/**2014/66218** **PP. No.- 248-251**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

श्यामा चरण दुबे का "विकास का समाजशास्त्र"– एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ0 मंगल चन्द राय
सहायक आचार्य– समाजशास्त्र, श्री मुरली मनोहर टाउन पी0 जी0 कॉलेज, बलिया (उ0प्र0) भारत

Received-12.08.2026, Revised-20.08.2026, Accepted-27.08.2026, **E-mail:mangalrai1980@gmail.com**

सारांशः भारतीय सामाजिक–मानवशास्त्री चिंतक डॉ.एस.सी.दुबे द्वारा रचित पुस्तक "विकास का समाजशास्त्र" विकास को समजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समझने की एक संदर्भ पुस्तक है,जो 1996 में वाणी प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित हुई है।

डॉ. दुबे ने इस पुस्तक में विकास से संबंधित सभी आयामों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस समीक्षात्मक लेख में डॉ. दुबे की इस रचना के सभी पक्षों का विश्लेषण करते हुए डॉ. दुबे के विकास एवं उससे जुड़ी हुई अन्य अवधारणाओं को समझते हुए लेखक की रचना का मूल्यांकन समाजशास्त्री परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

इस समीक्षात्मक लेख का प्रमुख उद्देश्य 90 के दशक के आर्थिक अव्यवस्था की स्थिति में वैश्विक परिप्रेक्ष्य में विकास की स्थिति को स्पष्ट करते हुए इससे जुड़े उन पक्षों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है,जो संभवतः लेखक के वैचारिक परिप्रेक्ष्य की सीमाओं के कारण अछूते रह गए।

कुंजीभूत शब्द– विकास,परिवर्तन, आधुनिकीकरण, सामाजिक, विकासशील, आर्थिक,गरीबी, संक्रमण युग, वैदिक परंपरा, श्रमण आंदोलन।

पुस्तक की पृष्ठभूमि– लेखक इस पुस्तक को 90 के दशक के मध्य में लिखते हैं,जब वैश्विक स्तर पर संकट की स्थिति खड़ी हो गई तथा 90 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में इसका प्रभाव दिखने लगा था। वैश्विक स्तर पर यह विचार उत्पन्न हो गया था कि वैश्विक अर्थव्यवस्था को नए सिरे से संरचनाबद्ध करने की आवश्यकता है। भारत में भी आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। भारत में भी बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार की प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, इन स्थितियों ने लेखक को विकास को समाजशास्त्रीय आधार पर स्पष्ट करने हेतु प्रेरित किया।

पुस्तक की विषय वस्तु

भूमिका– पुस्तक में लेखक ने इस बात की चर्चा की है कि विकासशील देशों ने अपने सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों का मूल्यांकन किये बिना समाजवादी एवं पूंजीवादी आर्थिक मॉडल को अपना लिया, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उनको अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि विकासशील देशों ने सकल राष्ट्रीय उत्पाद एवं राष्ट्रीय आय को ही विकास मान लिया। विकास के लिए जिस बाजारवाद, उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण को साधन माना गया उसने समाज में और सामाजिक आर्थिक असमानता पैदा कर दी। आर्थिक विकास के साथ–साथ सामाजिक विकास भी आवश्यक है। विकास की नीतियाँ तभी सफल हों सकती हैं जब उससे जुड़े सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक व नैतिक आयामों को भी ध्यान में रखा जाए। लेखक ने अपने चिंतन को निम्न अध्यायों के आधार पर स्पष्ट किया है–

अध्याय– 1

परिवर्तन की प्रक्रिया– लेखक ने परिवर्तन की प्रक्रिया के चार संभावित परिणाम सामाजिक–सांस्कृतिक निरंतरता, सामाजिक–सांस्कृतिक परिसमाप्ति, सामाजिक–सांस्कृतिक नवाचार एवं नवीनीकरण और सामाजिक–सांस्कृतिक विकास बताएं हैं। डॉ. दुबे ने नियोजित परिवर्तन की चर्चा करते हुए कहा है की इसका जो लाभ सोवियत संघ ने प्राप्त किया है वह लाभ अन्य कोई तीसरी दुनिया का देश नहीं उठा पाया क्योंकि इसके लिए कुछ कड़े अनुशासन और अपनी प्रशासनिक संरचना में बदलाव की भी आवश्यकता थी, जिसमे तीसरी दुनिया के देश असफल रहे ।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने अपने इस अध्याय में प्राचीन पाषाण काल से वर्तमान समय के परिवर्तन एवं आर्थिक दशा का वर्णन किया है। यह वर्णन अपने आप में सम्पूर्णता लिए हुए है, परन्तु इसमें कोई विशेष तथ्य दृष्टिगोचर नहीं हों रहे है। यद्यपि एक प्रक्रिया के रूप में परिवर्तन को लेखक ने बहुत ही क्रमिक रूप से स्पष्ट किया है।

अध्याय– 2

"आधुनिकीकरण तथा विकास की दुविधाएं"– इस अध्याय में लेखक ने आधुनिकीकरण एवं विकास की चर्चा की है। लेखक का कहना है कि अर्थशास्त्रियों ने विकास के मापदंड के रूप में जिस सकल राष्ट्रीय उत्पाद एवं प्रतिव्यक्ति आय को आधार बनाया है, वह तर्कसंगत नहीं है। विकासशील देशों के सन्दर्भ में यह मापदंड पूरी तरह असफल रहा है। डॉ. दुबे ने विकास की कुछ दुविधाओं की चर्चा की है– प्रथम दुविधा विकास बनाम अविकास, दूसरी देशज बनाम विदेशी, तीसरी आत्मनिर्भरता बनाम परस्पर निर्भरता, चौथी वृद्धि बनाम वितरण, पांचवी केन्द्रीकरण बनाम नियोजन का विकेंद्रीकरण। इसके माध्यम से डॉ. दुबे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि विकास को लेकर एकमतता की स्थिति नहीं होती है ।

डॉ. दुबे ने विकास से संबंधित दुविधाओं में उद्योग बनाम खेती, आयात प्रतिस्थापना बनाम निर्यात–प्रवर्तन, सहायता बनाम व्यापार, मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बनाम क्षेत्रीय एकता तथा सुविधा की दुविधाएं, भौतिक निवेश बनाम मानव पूंजी में निवेश ,नवीनतम तकनीकी बनाम मध्य स्तरीय तकनीकी की दुविधा, उद्विकास बनाम क्रांति के साथ–साथ भौतिक विकास एवं मानव संसाधन को भी महत्वपूर्ण माना है ।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ. दुबे ने अपने इस अध्याय में आधुनिकीकरण एवं विकास की अवधारणा को व्यापक स्तर पर स्पष्ट करते हुए इससे जुडी दुविधाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। विकासशील देशों के सामने विकास को लेकर क्या चुनौतियां है? उसे भी स्पष्ट किया है। कहीं–कहीं लेखक ने विकसित देशों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है। वे अल्पविकास के सिद्धांतकारों के विचारों का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। विकसित देशों के प्रति इस प्रकार के नकारात्मक दृष्टिकोण से लेखक को बचना चाहिए था।

अध्याय– 3

"आधुनिकीकरण पर पुनर्विचार"– डॉ. दुबे ने आधुनिकीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है यह व्यवस्था तार्किक और वैज्ञानिक विश्वदृष्टि आर्थिक वृद्धि तथा विज्ञान और तकनीक के अधिकाधिक प्रयोग पर आधारित है। इसकी शुरुआत 15वीं और 16वीं शताब्दी

अनुरूपी लेखक / संयुक्त लेखक

में यूरोप में देखी जा सकती है। इसका विस्तार 19वीं सदी के मध्य और अंत के दशको में तेजी से देखा गया। एशिया महाद्वीप में इसकी शुरुआत 20वीं सदी के प्रारंभ में जापान से देखी जा सकती है।

डॉ. दुबे ने आधुनिकीकरण को एक जटिल प्रक्रिया माना है, जिसमें तार्किक क्षमता, परानुभूति, गतिशीलता एवं उच्च सहभागिता निहित है। डॉ. दुबे ने असीमित आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न पर्यावरण चुनौतियों को भी उठाया है, परन्तु यह भी कहते हैं कि ये ठीक नहीं होगा कि आधुनिकीकरण एवं विकास को रोक दिया जाए। इसके लिये आवश्यक है कि आधुनिकीकरण को पुनः परिभाषित करते हुए पर्यावरण के अनुरूप नए विज्ञान और तकनीक को अपनाया जाए। डॉ. दुबे का कहना है कि वर्तमान विश्व में असमानता व्याप्त है विश्व के आर्थिक व सैनिक संसाधनों पर कुछ विकसित देशों का ही नियंत्रण है तथा विकसित और अल्पविकसित देशों का सम्बन्ध विकसित देशों के हित से ही जुडा है। इसी प्रकार विकसित देश, अल्पविकसित देशों के नागरिकों को जो आधुनिक शिक्षा उपलब्ध कराते हैं, उसमे भी राष्ट्रीयता का आभाव रहता है, जिससे अल्पविकसित देशों उसका लाभ नहीं उठा पाते हैं।

डॉ. दुबे अंत में कहते हैं कि आधुनिकता को लेकर जो दुविधा है इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि विकास व आधुनिकीकरण को नए सिरे से परिभाषित किया जाये तथा विश्व व्यवस्था के नये ढंग से पुनर्गठन के लिए आधुनिकीकरण व विकास का नया प्रारूप विकसित किया जाए।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– इस अध्याय में लेखक ने आधुनिकीकरण को परिभाषित करते हुए, इसकी मार्ग की बाधाओं तथा विकसित देशों का अल्पविकसित देशों के प्रति नकारात्मक दृष्टीकोण की चर्चा की है, जो किसी सीमा तक सच है, परन्तु लेखक का विकसित देशों के प्रति कुछ अधिक ही दुराग्रह प्रतीत होता है, जो स्वीकार करने योग्य नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करना होगा की अल्पविकसित देश बिना विकसित देशों की सहायता के आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

अध्याय– 4

"विकास पर पुनर्विचार"– डॉ. दुबे का कहना है कि आधुनिकीकरण एवं विकास लगभग पर्यायवाची अवधारणाये हैं। डॉ. दुबे का मत है की विकास का क्लासिकल दृष्टिकोण बहुत ही सामान्य है। इस दृष्टिकोण के विचारक राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि को ही विकास मानते है यह बहुत तर्क संगत नहीं है। डॉ. दुबे ने पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध की भी चर्चा की है। डॉ. दुबे का कहना है कि विकास के पश्चिमी मॉडल की तीसरी दुनिया के देशों द्वारा अब मुखर आलोचना की जा रही है।

डॉ. दुबे ने विकास के गांधीवादी मॉडल की चर्चा करते हुए कहा है कि विकास के औद्योगिक मॉडल का उचित परिणाम न मिलने पर आज गाँधीवादी मॉडल की प्रासंगिकता बढ़ गयी है। गाँधी जी का मॉडल अन्त्योदय विकास का मॉडल था जो सभी को रोजगार उपलब्ध कराने पर आधारित था। डॉ. दुबे ने पाल बरन, टी. डॉस सेंटओज, ए.जी. फ्रैंक आदि के विचारों के आधार पर अल्पविकास को समझाया है कि किस प्रकार विकासित देशों का विकास, विकासशील देशों पर निर्भर है तथा किस प्रकार विकासशील देशो की निर्भरता विकसित देशों पर अधिकाधिक बढती जा रही है। डॉ. दुबे ने अपनी बात रखते हुए कहा कि विकासशील देशों का विकास पीछे रह जाने का सारा दोष विकसित देशों को ही दे देना उचित नहीं है क्योंकि विकासशील देश स्वयं भी अपने अल्पविकास के दोषी रहे हैं। जनसँख्या विस्फोट ,बढती बेरोजगारी, आधारित संरचनाओं का ठीक ढंग से विकास ना कर पाना, भ्रष्टाचार आदि ऐसे कारक रहे हैं, जो स्वयं के विकास के लिए बाधा का कार्य किये हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– इस अध्याय में लेखक आधुनिकता एवं विकास को एक ही मानते है, जो तर्कसंगत नहीं है। लेखक ने विकास के कई माडलों की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि सभी माडलों में कुछ न कुछ अन्तर्विरोध निहित है जिसे मार्क्सवादी मॉडल ने उजागर किया है। लेखक ने गांधीवादी मॉडल की प्रासंगिकता पर भी चर्चा की है जो कहीं तक प्रासंगिक है, परन्तु इस मॉडल को व्यावहारिक रूप से कैसे लागू किया जाये इसको स्पष्ट नहीं किया है। लेखक ने पराश्रयता और केंद्र परिधि के सम्बन्ध के आधार पर विकसित देशों पर कई आरोप मढ़े हैं, जो किसी सीमा तक ही सत्य है, यद्यपि लेखक ने विकासशील देशों के विकास में अवरोधक कारकों की चर्चा की है, परन्तु इसे वे बहुत विस्तार से समझाने में नाकाम रहे हैं। लेखक विकासशील देशों के स्वयं के मॉडल होने की बात पर कोई व्याहारिक मॉडल की रूपरेखा स्पष्ट करने से बचते रहे ।

अध्याय– 5

"सामाजिक विकासः मानवीय आवश्यकतायें तथा जीवन की गुणवत्ता"– डॉ. दुबे ने सामाजिक विकास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह उद्विकास की अवधारणा से अलग है और यह मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि और जीवन की गुणवत्ता के प्रश्नों पर केन्द्रित है। सामाजिक विकास आर्थिक विकास की तुलना में व्यापक आवधारणा है तथा आर्थिक विकास को अपने में समाहित किये हुए है।

आर्थिक विकास निःसंदेह आवश्यक है, परन्तु इसकी कुछ कमजोरियां हैं, जिससे यह सामाजिक लक्ष्यों से दूर रह जाता है। डॉ. दुबे ने सामाजिक विकास के आठ लक्षणों की चर्चा करते हुए इसके तीन प्रमुख पक्ष– प्रतिमानात्मक, मूल्यांकनात्मक तथा क्रियात्मक की बात की है और कहा है कि ये सभी आपस में अन्तर्सम्बंधित हैं। डॉ. दुबे का कहना है की आर्थिक विकास से उच्च उपभोग को बढ़ावा मिला है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि प्राकृतिक संसाधनों का अतिशय उपभोग होने लगा है, जो कि पर्यावरण असंतुलन और वायुमंडल में प्रदूषण को बढ़ावा देता है इससे निपटने के लिए नई वैज्ञानिक तकनीकी को अपनाना होगा।

विकासशील देशों में गरीबी के कारण बहुत से लोग विकसित देशों के उपभोग स्तर को प्राप्त नहीं कर पाते। कुछ धनी लोग अतिशय उपभोग करते हैं, जो अन्य लोगों के आवश्यक उपभोग की समस्या खड़ी कर देते हैं। इससे असंतुलित विकास की समस्या खडी हो जाती है। विकासशील देश के संपन्न लोग उच्च उपभोग की अंधी दौड़ में शामिल होते जा रहे हैं, जिससे सामान्य जनता में आवश्यक सेवाओं की उपलब्धता कम पड़ जाती है, इसका दुष्परिणाम यह होता है की समाज में कुंठा को बढ़ावा मिलाता है।

डॉ. दुबे का कहना है कि सामाजिक विकास का मूल्यांकन करने के लिए गुणवत्तापरक सामाजिक सूचको का निर्धारण करना होगा। इन गुणवत्तापरक सामाजिक सूचकों के निर्धारण में कुछ समस्याएं भी होंगी, जैसे निवेश एवं उत्पाद के गुणवत्ता का आकलन कैसे होगा? निवेश की वरीयताएँ क्या होंगी? सिर्फ उच्च शिक्षा को सामाजिक विकास का सूचक मानना उचित नहीं होगा, हमे शिक्षा की गुणवत्ता का भी परीक्षण करना होगा। डॉ. दुबे का कहना है कि विकास तभी सामाजिक विकास माना जायेगा, जब मानव की मूलभूत आवश्यकतायें पूर्ण हों। आज भी मानव समाज मूलभूत आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करता हुआ देखा जा सकता है।

डॉ. दुबे ने सामाजिक विकास के मूल्यांकन का दूसरा आधार जीवन की गुणवत्ता को माना है, उनका कहना है कि पश्चिम के विचारको ने भौतिकवाद पर बहुत अधिक बल दिया है, जो तर्कसंगत नहीं है। डॉ. दुबे का कहना है कि जीवन की गुणवत्ता का

कोई सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत परिभाषा प्रस्तुत करना या इसके मापन या मूल्यांकन के लिए सूचकों का निर्माण कठिन है, क्योंकि इसमें वस्तुनिष्ठ दशाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत भावनाए भी निहित होती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ. दुबे ने अपने इस अध्याय में सामजिक विकास को स्पष्ट करते हुए सामाजिक विकास के मूल्यांकन के लिए दो आधार मानवीय आवश्यकताये और जीवन की गुणवत्ता की विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने विकासशील देशों की समस्याओं की चर्चा करते हुए सामाजिक विकास की चुनौतिओं की भी चर्चा की है। डॉ. दुबे ने कुछ पक्षों जैसे भौतिकवाद की आलोचना की है, जो तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यह मानवीय प्रवृत्ति है, की जब उसके पास धन आता है, तो उसका भौतिकवाद की ओर झुकाव होता है। डॉ. दुबे ने भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद में संतुलन की बात की है।

अध्याय– 6

"नीति के आयाम"– इस अध्याय की शुरुआत डॉ.दुबे विकास के वैकल्पिक प्रारूपों की चर्चा करते हैं। वे कुछ सहमति के बिन्दुओं को उठाते हैं, जो निम्न है–

1. सिर्फ आर्थिक वृद्धि को ही विकास नहीं माना जा सकता है। आर्थिक विकास को मानवीय, सामाजिक–सांस्कृतिक लक्ष्यों से जोड़ते हुए मानव विकास पर केन्द्रित करना होगा।
2. आर्थिक वृद्धि को केवल सकल राष्ट्रीय उत्पाद तथा प्रतियव्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी के रूप में ही समझाना ठीक नहीं है। विकासशील देशों ने इसे विकास का मापदंड मान लिया जो अंत में गलत सिद्ध हुआ। उत्पादन एवं वितरण में समानता होनी चाहिए तभी सर्वसमाज की उन्नत्ति हों पायेगी।
3. विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन आवश्यक है। विकासशील देशों के पिछड़ेपन का यह प्रमुख कारण रहा है कि वे संरचनात्मक परिवर्तन पर ध्यान नहीं दिए।
4. विकासशील देशों के साथ एक समस्या यह भी है, की वे पश्चिमी देशों के मॉडल को हुबहू अपना लिए,इसमें जनता की कोई भूमिका नहीं रही तथा तानाशाही एवं दमनात्मक व्यवस्था अपने हित में शासन चलाता रहा। धीरे–धीरे लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना से जनता की भूमिका बढ़ रही है तथा इस दिशा में और प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।
5. विकास को पर्यावरण हितैषी होना ही होगा, नहीं तो विकास स्थाई नहीं रह जाएगा। इस दिशा में विकासशील देशों को और अधिक सक्रिय होना होगा।
6. विकास एवं नियोजन में एक अंतर्संबंध अवश्यक है। बहुत से विकासशील देश चेतन या अचेतन रूप से बिना अपने संसाधनों का ठीक ढंग से प्रयोग किये विकसित देशों का अन्धानुकरण कर रहे है, जिसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि इन देशों में मुद्रास्फीति, बेरोजगारी, मंदी आदि की समस्याएँ सामने आ रही है। विकासशील देशों को नियोजित तरीके से विकास के लक्ष्यों को निर्धारित करना होगा ।
7. विकासशील देशों को आत्मनिर्भर बनने का प्रयास करना होगा। विकासशील देशों को विकसित देशों पर अपनी निर्भरता कम करनी होगी ।
8. विकसित देश व विकासशील देश में सम्बन्ध दोनों के हित में होना चाहिए ।
9. विकासशील देशों को नियोजन की रणनीति भविष्योन्मुख बनानी चाहिए।

डॉ. दुबे का कहना है कि आज भी विकासशील देश विकास को वृद्धि सकल राष्ट्रीय उत्पाद के आधार पर ही प्राप्त करना चाहते हैं अभी भी वे विकास को सामाजिक–सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित व लक्ष्य केन्द्रित नहीं कर पा रहे है, साथ ही साथ वे दीर्घकालीन लक्ष्यों का ठीक ढंग से निर्धारण भी नहीं कर पा रहे हैं ।डॉ. दुबे का कहना है कि विकासशील देशों को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संरचनात्मक परिवर्तन करना ही होगा।

डॉ. दुबे ने जनसँख्या वृद्धि को भविष्य में तीसरी दुनिया के देशों के लिए गंभीर समस्या माना है क्योंकि उपलब्ध तकनीकी से इतनी बड़ी जनसँख्या लिए भोजन उपलब्ध करवाना संभव नहीं हों सकेगा। डॉ. दुबे का कथन है कि नीति के ठीक ढंग से क्रियान्वयन के लिए प्रशासनिक संरचना का कार्यकुशल व ईमानदार होना जरुरी है। साथ ही साथ प्रशासनिक संरचना का अपनी संस्कृति व समाज से जुडाव होना चाहिए क्योंकि प्रशासनिक संरचना का आयातित मॉडल बहुत कार्य कुशल सिद्ध नहीं हों पता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– इस अध्याय में लेखक ने बड़ी ही गंभीरता से विकासशील देशों के विकास से जुड़े सभी पक्षों को उद्घाटित किया हैद्यलेखक ने विकसित–विकासशील देशों के पारस्परिक सम्बन्ध,विकासशील देशों के सामने विकास की चुनौतिया एवं उनकी सीमायें आदि सभी पक्षों को उठाया है, लेकिन इस अध्याय में भी लेखक समाधान से सम्बंधित कोई स्पष्ट विचार सामने लाने में असफल रहे है। लेखक का विकसित देशों के प्रति दुराग्रह इस अध्याय में भी कई जगह देखने को मिलता है। यद्यपि लेखक मार्क्सवादी विचारधारा के नहीं है, परन्तु विकसित विकासशील देशों के बीच सम्बन्ध में उनको शोषण व दासता ही अधिक दिखता है। लेखक को इस प्रकार के दुराग्रह से बचना चाहिए था।

अध्याय– 7

"कार्यक्रम के प्रमुख तत्व"– डॉ. दुबे का कहना है कि एशिया, पैसिफिक व लातिनी देशों में आज भी निरपेक्ष गरीबी की समस्या विकराल रूप धारण किये हुए है। गरीबी एक ऐसी संस्कृति को जन्म देती है, जिसका लाभ पूंजीपति (सुविधा संपन्न वर्ग) उठाता है। डॉ. दुबे विश्व विकास प्रतिवेदन 1980 के रिपोर्ट से सहमत है, की इस सदी के अंत तक निरपेक्ष गरीबी को समाप्त करना असंभव है। डॉ. दुबे ने लेविस की गरीबी की संस्कृति की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कहा है कि अधिकांश विशेषताएँ अधिकांश देशों में देखने को मिलती है, किन्तु ये सार्वभौमिक नहीं है। डॉ. दुबे का कहना है कि लेविस गरीबी की विशेषताएँ बताने में तो सफल रहे, परन्तु गरीबी के कारण और स्थिति सुधार के सुझाव देने में विफल रहे।

डॉ. दुबे का कहना है कि परंपरागत शिक्षा गरीबी निवारण में बहुत सही नही है, क्योंकि यह गरीबी के समस्याओं का समाधान नहीं करती है। हमे शिक्षा के नए विकल्पों पर ध्यान देना होगा। शिक्षा को पाठ्यसामग्री से इतर जीवन से अधिक जोड़ना होगा। शिक्षा के प्रतियोगी स्वरुप को बदल कर सहयोगी स्वरुप को सामने लाना होगाद्यशिक्षा व्यवस्था न्याय व समानता पर आधारित होना चाहिए। डॉ. दुबे का कहना है की सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण से व्यवस्था में नौकरशाही का वर्चस्व बढ़ा है साथ ही साथ नौकरशाही की कार्य–संस्कृति में आज भी औपनिवेशिक काल की विशेषताएँ देखी जाती है। यद्यपि पंचायती राज व्यवस्था द्वारा विकेन्द्रीकरण का प्रयास किया गया है, परंतु उसके परिणाम बहुत उत्साहवर्धक नहीं रहे हैं।

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ. दुबे तीसरी दुनिया के देशों में व्याप्त गरीबी तथा उसके कारणों की विस्तृत चर्चा की ह। डॉ. दुबे का यह मानना की जनता की शासन व्यवस्था में ठीक ढंग से भागीदारी न होने पर उसकी बहुत सी समस्याओं का ठीक ढंग से समाधान नहीं हों पाता, पूर्णतः सही है। डॉ. दुबे का यह मानना की चेतना के विस्तार से गरीबी की समस्या का समाधान मिलेगा,पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में भी बहुत सी कमियां निहित रहती हैं, जिसके परिणामस्वरूप गरीबी निवारण में समस्या आती है। डॉ. दुबे ने केन्द्रीकरण की तुलना में विकेंद्रीकरण को अधिक ही महत्व दिया है, जो बहुत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योकि बहुत विकेंद्रीकरण से अपव्यय भी बढ़ता हुआ देखा गया है तथा व्यापक स्तर पर असहमति का प्रभाव बढ़ता है, जिससे योजनाओं के क्रियान्वयन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

अध्याय– 8

"विकास का नया परिदृश्य"– डॉ दुबे का कहना है कि सोवियत संघ के समाप्त होने से विश्व व्यवस्था पर शीत युद्ध के बादल तो मडराना बंद कर दिए, परन्तु परमाणु हथियारों एवं उनकी प्रक्षेपण क्षमता में दिन प्रतिदिन बढ़ोत्तरी हों रही है और निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया धीमी होती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो की प्रभावशीलता भी दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है।

विश्व के लगभग सभी देश स्वतन्त्र हैं, परन्तु उनकी सामाजिकार्थिक समस्याएं समय–समय पर उनकी संप्रभुता के सामने चुनौती खडी कराती रहती है। निःसंदेह पिछले पांच दशकों में विकास की गति तेज हुई है, परन्तु यह विकास सामजिक न्याय आधारित नही है, क्योकि संपन्न देशों में यह गति तीसरी दुनिया की तुलना में अधिक तेज रही है। संपन्न देशों ने पूँजी निवेश एवं बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के द्वारा अपने आर्थिक हित सुरक्षित कर लिए जिसका लाभ तीसरी दुनिया के देश या तो नहीं उठा पा रहे हैं या फिर महँगी कीमत पर उठा रहे हैं। डॉ. दुबे का कहना है कि तेज गति से विकासशील देशों के सामने सामाजिक–सांस्कृतिक चुनौतियां भी सामने आई है। जातिवाद, धार्मिक कट्टरता,राजनीतिक अन्तःकलह, आतंकवाद आदि समस्याएँ तेजी से उभरी हैं, जिन्होंने विकास को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में भी मुद्रा का अवमूल्यन, मुद्रास्फीति आदि की समस्याएँ सामने आयीं हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ.दुबे ने एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था की चर्चा करते हुए भविष्य में उत्पन्न होने वाली सामजिक,सांस्कृतिक आर्थिक एवं सैनिक समस्याओं को बहुत ही तर्कसंगत ढंग से उठाया है ।उन्होंने बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था की एक कल्पना की थी जिसने स्पष्ट रूप तो नहीं लिया है परन्तु चीन के नेतृत्व उभरता हुआ देखा जा सकता है । डॉ. दुबे ने कुछ नई चुनौतियो की भी चर्चा की है ,परन्तु उससे निपटने की जिम्मेदारी जनता व शासन पर छोड दिया है। डॉ. दुबे के लेखन में यह सबसे बड़ी कमी रही है कि वे समस्याओं को तो उठाते हैं,परन्तु समाधान का रास्ता बताने से बचते हैं।

अध्याय– 9

अंतरावलंबन और स्वायत्तता– डॉ. दुबे ने अंतरावलंबन और स्वायत्तता द्वारा संस्कृति के पारस्परिक सहयोग एवं उनके एक दूसरे से पृथकता की चर्चा की है। जहाँ एक तरफ संस्कृतियों में सहयोग बढ़ा है तथा वे आपस में समाहित हों रही है, वहीँ दूसरी ओर अपनी पृथक पहचान के लिए कुछ संस्कृतियाँ संघर्ष भी कर रही है।

डॉ. दुबे पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी की समस्या को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर पर्यावरण को नुकसान पहुँचाया जा रहा है तथा प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है, की भविष्य में इनकी समाप्ति का खतरा उत्पन्न हो गया है। डॉ. दुबे का कहना है की बिना पारस्परिक सहयोग के वैश्विक विकास संभव नहीं है, परन्तु अमेरिकी वर्चस्व के कारण एक समानता एवं न्याय आधारित सहयोग की कमी देखी जा सकती है। यह सहयोग तभी संभव है, जब संयुक्त राष्ट्र संघ आर्थिक रूप से मजबूत हो तथा उसका संचालन ऐसे हाथों में हों, जिसमे विकासशील देशों की भी भूमिका रहे।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने बहुत ही तार्किक रूप से यह समझाने का प्रयास किया है कि वैश्विक स्तर पर पारस्परिक सहयोग एवं पृथकता की भावना एक साथ चल रही है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैश्विक स्तर पर, जो असमानतापूर्ण एवं भेदभावपूर्ण विकास हुआ है, उसी का दुष्परिणाम पृथकता की भावना है। लेखक के इस बात से सहमति व्यक्त की जा सकती है। लेखक ने वैश्विक स्तर पर विकास व सांस्कृतिक मूल्यों के समन्वय की बात की है, क्योंकि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के अपने–अपने मूल्य होते हैं।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण– इस पुस्तक में लेखक ने विकास एवं उससे संबंधित अन्य पहलुओं को समाजशास्त्रीय आधार पर समझाने का प्रयास किया है। डॉ. दुबे मूलतः क्षेत्र विधि एवं संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम के विचारक रहे हैं, परंतु इस पुस्तक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि डॉ. दुबे का झुकाव थोड़ा–बहुत मार्क्सवादी दृष्टिकोण की तरफ भी रहा है। इसके साथ–साथ लेखक ने विश्लेषणात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है।

पुस्तक की विशेषता– पुस्तक की भाषा–शैली सुसंगठित एवं टकसाली है। डॉ. दुबे मूलतः अंग्रेजी भाषा के लेखक होते हुए भी अपनी इस अंतिम कृति को उन्होंने हिन्दी भाषा में लिखा है। उनका यह प्रयास सराहनीय रहा, परंतु कुछ स्थानों पर वाक्य विन्यास में कुछ कमी रह गई है।

पुस्तक की सीमाएं– यद्यपि लेखक ने विकास के अधिकतर पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, परंतु लेखक अपना कोई सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। इसके साथ ही साथ बहुत सी जगह उनके विचारों में भी तारतम्यता का अभाव देखा जा सकता है। लेखक के विचार का कई अध्यायों में दुहराव भी हुआ है। लेखक विकास के अवरोधक कारकों को भी विस्तार से स्पष्ट करने में किसी सीमा तक पूर्णतः सफल नहीं रहे।

निष्कर्ष– निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है, की कुछ सीमाओं के होते हुए भी डॉ. एस. सी. दुबे "विकास का समाजशास्त्र" नामक पुस्तक विकासशील देशों के विकास से जुड़ी चुनौतियों एवं उनके समाधान के कुछ रास्ते अवश्य ही स्पष्ट करती है। वर्तमान में यह भी देखा जा सकता है कि इस पुस्तक में वर्णित समस्याएं आज भी अस्तित्व में है। अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के अध्येता के साथ–साथ सामान्यजन भी इस पुस्तक को पढ़कर अपना बौद्धिक परिप्रेक्ष्य को बढ़ा सकते है। अंततः यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तक एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में आज भी अपनी प्रसंगिकता बनाए हुए है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दुबे. श्यामा चरण. (1996), विकास का समाजशास्त्र. नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन। .

*****